ISSN 2319-5339 IIS Univ.J.A. Vol.10 (2), 352-56 (2021)

व्यक्ति-स्वातंत्र्य की विचारणा का प्रतिपादन : 'नदी के द्वीप'

हरीश अरोड़ा

शोध सार

व्यक्ति की अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से समाज में विलय हो जाना न तो समाज के लिए उपयोगी होता है और न ही व्यक्ति के लिए। व्यक्ति का विवेक समाज को विकसित करता है तथा समाज में परिवर्तन लाता है। मनुष्य का विवेक परम्परा के प्रति समर्पित होकर ही समाज को नई दिशा देता है। व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है और उसकी इयत्ता समाज के साथ रहकर ही है। किन्तु समाज के प्रति समर्पित होना उसकी नियति है। समाज से निकली परम्परा ही मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करती है।

बीज शब्द : अनस्तित्व; अस्तित्ववाद; परम्परा; परब्रह्म; मनोविश्लेषणवाद।

अज्ञेय की कविता की एक प्रमुख समस्या परम्परा और प्रयोग की है। उन्होंने कविता में विभिन्न स्तरों पर नवीन प्रयोग तो किए किन्तु परम्परा को अस्वीकार नहीं किया। अपनी कविताओं में उन्होंने अवधारणा के स्तर पर परम्परा को समझने का प्रयास किया है। आधुनिक जीवन-शैली में परम्परा परिवेश की दृष्टि से विरोधी प्रतीत होती है इसीलिए अज्ञेय के लिए परम्परा एक समस्या बन जाती है। लेकिन अज्ञेय ने परम्परा का अन्धानुकरण करने के स्थान पर उसे कवि के लिए आदि स्रोत के रूप में स्वीकार किया है। उनकी कविता 'नदी के द्वीप' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

'हरी घास पर क्षण भर संग्रह में संकलित 'नदी के द्वीप कविता अज्ञेय की श्रेष्ठतम कविताओं में से एक है। इस कविता में व्यक्ति और परम्परा के सम्बन्ध की माँग की गई है। अज्ञेय की अनेक कवितायें व्यक्ति-स्वातं=य की विचारणा को प्रतिपादित करती हैं। इस कविता में भी कवि ने प्रख्यात कामशास्त्री फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के अन्तर्गत आए 'अहं' के सिद्धांत को स्थापित किया है। व्यक्ति का अहं ही उसे किसी भी क्षण टूटने-बिखरने नहीं देता।

साहित्य के सम्बन्ध में विवेचन किया जाए तो परम्परा साहित्यकारों के लिए विशेष महत्त्व रखती है। इलियट भी उत्कृष्ट साहित्य के लिए साहित्यिक परम्परा की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। वह कहता है 'The dead writers are remote from us because we know so much more than they did.'[1] अर्थात् हम अपने से पूर्ववर्ती रचनाकारों से इसलिए अलग हैं कि हम उनसे कहीं अधिक जानते हैं। उसका मानना था कि पूर्ववर्ती रचनाकारों से अधिक जानना परम्परा से ग्रहण करते हुए वर्तमान में नए आयामों को प्रस्तुत करना है। वह यह भी मानता है कि

किसी भी नए लेखन को अपने पूर्ववती लेखन से अलग करके देखना उसके साथ अन्याय होगा। वह कहता है कि - 'When a new work of art is created is something that happens simultaneously to all the works of art which preceded it.'[2] यानि जब कला का एक नया प्रतिमान सृजित किया जाता है तो यह कला के किसी एक रूप के लिए नहीं वरन् उसके सभी प्रतिरूपों के लिए एक साथ होता है, जो इससे पहले कभी हुए थे। इसीलिए आधुनिक साहित्य को पूरी तरह से न तो आधुनिक कहा जा सकता है और न ही पुराना।

अज्ञेय भी परम्परा को साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण मानते थे। लेकिन वह परम्परा को यथावत् रूप से स्वीकार नहीं करते। वे अपने समय की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप परम्परा से उन्हीं तत्वों को ग्रहण करते हैं जो उस समय के अनुरूप मूल्यवान हैं। वे कहते हैं कि - 'परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजाकर, तोड़-मरोड़कर देखकर आत्मसात नहीं कर लेता, जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका येष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाए। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार विशेष के वेष्टन में ही सहज सामने आती है, तभी वह संस्कार देने वाली परम्परा कवि की परम्परा है, नहीं तो - वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान भंडार है जिससे अपरिचित भी रहा जा सकता है।' 3

शायद इसी कारण आधुनिक युग में परम्परा जड़ होकर टूटती है और उसका चिन्तन होता है, इसलिए मनुष्य उसके बिना भी जीता है। परम्परा के विरोध और लगाव के सम्बन्ध और विच्छेद को नए सिरे से परिभाषित करने का प्रयास अज्ञेय द्वारा इस कविता में किया गया है। कवि अपने वैयक्तिक अनुभव को नदी के विशाल प्रवाह में स्थित एक द्वीप की भाँति महसूस करता है। जिस प्रकार नदी के बीच में रहकर भी द्वीप अपना आकार ग्रहण करता रहता है उसी प्रकार कवि सदियों से प्रवहमान विशाल परम्परा में स्थित होकर भी अपने व्यक्तित्व के लिए नए स्वरूप-आकार ग्रहण कर लेता है। कवि ने नदी को 'समाज' और द्वीप को 'व्यक्ति' का प्रतीक स्वीकार किया है। कवि के अनुसार नदी में रहकर ही द्वीप की गोलाइयाँ, उसके उभार, उसके कोण आदि आकार प्रकार स्वतः ही बनते चले जाते हैं। नदी द्वीप के लिए 'स्रोतस्विनी' है, उसके अस्तित्व का स्रोत है। उसी प्रकार अपनी सामाजिक परम्पराओं से प्राप्त अनुभवों से ही व्यक्ति का मानसिक और बौद्धिक स्वरूप निर्मित होता है।

व्यक्ति से ही समाज बनता है और समाज से ही सामाजिक परम्परायें -- ये परम्परायें सामाजिक सम्बन्धों का ही सार तत्त्व हैं लेकिन कवि प्राचीन परम्परा के साथ बहना नहीं चाहता, वह उसका अंधानुकरण नहीं करना चाहता। वह प्राचीन परम्परा के भीतर से ही आधुनिक परिवेश को जानने, समझने का प्रयास करता है। वह परम्परा के उन गतिशील तत्त्वों को ही स्वीकार करता है, जो उनके परिवेश के लिए मूल्यवान होते हैं। कवि के लिए परम्परा जननी है व्यक्ति की, लेकिन वह उसे वहीं तक स्वीकार करता है जहाँ तक वह उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहयोगी होती है। इसलिए कवि परम्परा का अन्धानुकरण कर उसमें बह जाने के बजाए अपनी निजता को बचाए रखता है क्योंकि वह जानता है कि 'हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं' --

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।

स्थिर समर्पण है हमारा।
हम सदा से द्वीप है स्रोतस्विनी के
किन्तु हम बहते नहीं हैं
क्योंकि बहना रेत होना है।[4]

अज्ञेय मानते हैं कि महत्त्वपूर्ण रहना या होना है, धारा में बहना या इतिहास प्रवाह में बहकर उनका अपना निजीपन नहीं रहेगा। फिर भी हमारी पहचान परम्परा से ही है। 'नदी' द्वीप के अस्तित्व का स्रोत है इसलिए नदी के प्रति समर्पित होना निश्चित है। द्वीप स्थिर है, इसलिए समर्पण भी स्थिर है। अज्ञेय मानते हैं कि स्थिरप्रज्ञ व्यक्ति ही समाज और उसकी परम्परा का विकास कर सकता है क्योंकि वह अपने समय और जातिगत अनुभवों की सचेतनता द्वारा समाज के लिए मूल्यवान तत्त्वों की पहचान कर उन्हें अगली पीढ़ी तक पहुँचाता है। परम्परा तो गतिशील है, नदी की तरह प्रवहमान है इसलिए वह समष्टिगत् अनुभव है। लेकिन व्यक्ति स्थिर है, वह समाज का अंग है। यदि वह अपने विवेक का ही समर्पण कर देगा तो उसकी अपनी पहचान समाप्त हो जायेगी। उसका विवेक ही उसकी पहचान को बनाए रखता है और उसे टूटने-बिखरने नहीं देता। अज्ञेय मानते हैं --

हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे, प्लवन होग, ढहेंगे, सहेंगे, बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते ?
रेत बनकर हम सलिल को तनिक गंदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।[4]

इसीलिए अज्ञेय व्यक्ति के विवेक को परम्परा के प्रति समर्पित नहीं करते क्योंकि परम्परा के प्रति उसका समर्पण व्यक्ति की निजता को समाप्त कर देगा। इसीलिए द्वीप नदी के प्रवाह में बहकर रेत होने के स्थान पर उसके प्रति स्थिर समर्पण करता है। अज्ञेय परम्परा के साथ अपने-आपको बहा देने के बजाए उसके अर्जन को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यदि हम परम्परा को अर्जित करने के स्थान पर उसमें अपना अस्तित्व ही घोल देंगे तो हमारा स्वरूप रेत अर्थात् 'अनस्तित्व' की भाँति बन जायेगा और रेत होकर परम्परा को गंदला ही करेगा। व्यक्ति यदि अपने अस्तित्व को त्यागकर परम्परा के साथ बह जायेगा तो इससे व्यक्ति की आंतरिक चेतना गंदली ही होगी। व्यक्ति की स्वरूपता परम्परा की तरह गतिशील होने में नहीं और परम्परा की स्वरूपता व्यक्ति की तरह स्थिर होने में नहीं। परम्परा यदि व्यक्ति के गुण धारण कर ले तो व्यक्ति को गंदला कर सकती है और व्यक्ति यदि परम्परा का गुण धारण कर ले तो परम्परा गंदली होगी, इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति परम्परा के मूल्यवान तत्त्वों को अर्जित कर उसका विकास करे अन्यथा जड़ परम्परा विनष्ट हो जायेगी।

अज्ञेय परम्परा का नवीकरण कर उसे विकसित करना चाहते थे। स्वयं को व्यक्ति के रूप मेंसमाज में देखना अज्ञेय के लिए शाप नहीं है। मध्ययुग में जीव की मनुष्यता भक्त या भगवान का अंश होने में परिसीमित थी। आधुनिक युग मे उसके व्यक्ति होने से परिभाषित होती है। मध्ययुग का जीव समाज का नहीं परब्रह्म का अंश था। व्यक्ति का समाज को प्राथमिकता देना अनिवार्य है इसलिए मनुष्य को

अपनी मनुष्यता प्रमाणित करने के लिए व्यक्ति होना होगा। यह आधुनिक युग में उसकी नियति है। इसी नियति के कारण ही वह परम्परा में रहकर, उसे नए संदर्भ में जाँचकर और उसका नवीकरण करके भी अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। परम्परा में रहकर ही व्यक्ति 'वृहद् भूखण्ड' रूपी समाज से अपने आपको सम्बद्ध रख सकता है क्योंकि समाज परम्परा से पहले है। कोई समाज बनेगा तो उसकी परम्परा बनेगी। समाज परम्परा का ही पूर्वज है और व्यक्ति का भी। इस तरह 'परम्परा' व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध भी अनिवार्य कड़ी है -- पितर रूप में है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि अज्ञेय नीत्शे, किर्केगार्द, इलियट आदि पश्चिमी विचारकों द्वारा निरूपित 'अस्तित्ववाद' को भी व्यक्ति-सन्दर्भों में निरूपित कर देखते हैं। यह द्वीपों का व्यक्तिनिष्ठ अहं ही है जो उन्हें स्थिर रखता है और मिट्टी-रेत बनकर जल में बहने नहीं देता। स्थिर रहना उनकी घोर जिजीविषा का परिणाम है। द्वीप अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नदी के प्रबल प्रवाह के थपेड़े खाकर भी अस्थिर रहते हैं। नदी के द्वीपों का अपने अस्तित्व के प्रति यह अहंभाव और उससे उपजी कामनाएं कवि की अस्तित्ववादी व्यक्तिपरता का परिणाम है।

अज्ञेय परम्परा से प्राप्त संस्कारों को तो स्वीकार करते हैं लेकिन यथावत् रूप से नहीं। समाज से व्यक्ति को जो संस्कार मिलते हैं, परम्परा उन्हें संस्कारित करती है, माँजती है। कभी-कभी अनेक कारणों से परम्परा में अतिजीविता आ जाती है जिससे वह तात्कालिक विकृतियों को दूर नहीं कर पाती। कभी-कभी कोई प्रभावशाली व्यक्ति भी परम्परा को कमजोर करने की चेष्टा करता है जिससे परम्परा भयानक हो जाती है और मनुष्य समाज नष्ट हो जाता है। किन्तु धीरे-धीरे विकृतियों की बाढ़ उतरती है और नए रूप में समाज में नई परम्परा बनती है। परम्परा को कुछ लोग अपने निहितार्थ के लिए स्वैराचारी बना देते हैं तो परम्परा जड़ होकर विष हो जाती है जिससे व्यक्ति का नाश होता है किन्तु शीघ्र ही नवीन व्यक्तित्व लिए वह पुनः परम्परा को उभारकर स्वयं उभरता है। अस्तित्ववादी व्यक्ति नष्ट हो जाना पसन्द करता है किन्तु अपने अस्तित्व की स्वीकृति को नकार नहीं सकता। वह किसी दूसरे के अस्तित्व में अपनी निजता को विलीन कर दे, यह उसे असहनीय है।

अज्ञेय की 'नदी के द्वीप' कविता में तात्कालिक कवियों का विरोध रहा है। शायद इसलिए भी कि 'प्रयोगवादी' और 'नयी कविता' की धारा में अज्ञेय श्रेष्ठ कवि बनकर उभरे। इसीलिए भारत भूषण अग्रवाल ने 'हम नहीं हैं द्वीप' कविता लिखकर अपनी विकलता और विरोध दोनों ही व्यक्त किए। उन्होंने लिखा --

हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन जीवन से भरे निर्मल सरोवर!
हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार।

तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल टीले
धार की ही गोद में बैठे विषम व्यवधान

तो भले ही तुम रहो ऊँचे, महान
पर कृपा कर यह न सोचोः
धार की हर लहर जो आती तुम्हारे पास
ठोकती है वह तुम्हारी पीठ
या तुम्हारी कीर्ति में वह छेड़ती है तान
वह तो विकल, बेचैन तुमको लाँघ जाने के लिए।6

शायद 'नयी कविता' में जो ऊँचाई अज्ञेय को प्राप्त थी, उसे लाँघ जाने की विकलता या आकांक्षा अग्रवाल जी के मन में रही हो। लेकिन यह तो सत्य है कि कविता की व्याख्या संदर्भों से होती है। संदर्भ ही प्रतीकों के पीछे के विशिष्ट अर्थों के आवरण हटाते हैं। व्यक्ति के संदर्भ में अज्ञेय की मान्यता रही है-- 'व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी, इसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओं का प्रतिबिम्ब और पुतला है - 'जैविक' सामाजिक के विरोध में नहीं है, उसके अधिक पुराने और व्यापक और लंबे संस्कारों को ध्यान में रखते हुए। फिर वह इस दाय पर अपनी छाप भी बैठाता है, क्योंकि जिन परिस्थितियों में वह बनता है उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है।7

'नदी के द्वीप' कविता में अज्ञेय का व्यक्ति भी ऐसा ही व्यक्ति है। इस दृष्टि से देखा जाए तो निश्चित रूप से कवि ने भावना की अपेक्षा बुद्धि के प्रयोग द्वारा 'नदी' और 'द्वीप' की प्रतीकात्मकता को 'परम्परा'और 'व्यक्ति के रूपों में अभिव्यक्त कर इस व्यक्ति की अहंमन्यता को रूपायित किया है।

संदर्भ :

Eliot, T.S. *Selected Essays*. Faber & Faber Ltd. 1932, पृष्ठ 15-16.

अग्रवाल, भारत भूषण, 'हम नहीं है द्वीप', ओ अप्रस्तुत मन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1958, पृष्ठ 91-93

अज्ञेय, नदी के द्वीप (उपन्यास), सरस्वती प्रेस, वाराणसी, संस्करण 1981, पृष्ठ 149

---. आधुनिक हिन्दी साहित्य, राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृष्ठ 227-28

---. 'नदी के द्वीप', सर्जना के क्षण, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 1992, पृष्ठ 75

---. 'नदी के द्वीप', सर्जना के क्षण, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 1992, पृष्ठ 75